गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे

हमारे अपने 'पुनर्जागरण पुरुष'

सुभाष गाताड़े

अट्ठाईस जुलाई के *महाराष्ट्र* में प्रकाशित एक अलग क़िस्म के लेख पर अचानक निगाह गयी थी जिसका शीर्षक था 'आमचा दादोजी'। प्रस्तावना पढ़ने पर पता चला कि गोपु देशपांडे अर्थात् गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे (जो मराठी भाषियों के लिए 'गोपु' के नाम से तो *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* जैसी अंतर्राष्ट्रीय ख्याति की पत्रिका के पाठकों के लिए, जहाँ उन्होंने तीन दशक तक नियमित कॉलम लिखा, जीपीडी के नाम से जाने जाते रहे) की अनुजा (छोटी बहन) ज्योति सुभाष ने अपने दादोजी अर्थात् सबसे बड़े भाई के पचहत्तरवें वर्ष पूरे करने पर यह लेख लिखा था। लेख में सातारा जिले के रहमतपुर गाँव में बीते गोपु के बचपन की तमाम यादें थीं, जिन्हें उन्होंने कोलाज के रूप में पेश किया था। इस लेख में ज्योति ने आज़ादी के आंदोलन में शामिल उनके दादाजी और उनके माता-पिता के साथ-साथ बचपन से ही प्रचण्ड मेधावी के रूप में चर्चित गोपु (जो हमेशा सोचने समझने में ही खोये रहते थे, यहाँ तक कि उन्हें खाने-पीने का भी ध्यान नहीं रहता था) की भुलक्कड़ी के तमाम क़िस्से बयाँ किये थे। उन्होंने यह भी बताया था कि गोपु की पहली विदेश यात्रा के लिए उन्हें विदा करने गये सभी छोटे भाई-बहन किस तरह दुखी होकर हवाई अड्डे पर रो रहे थे। अपनी अनुजा के संस्मरणों के बहाने मेरे सामने गोपु के जीवन का

एक ऐसा अध्याय खुल रहा था, जिसके बारे में शायद ही कहीं लिखा गया हो। लेख पढ़ते हुए मुझे इस बात का ज़रा भी अंदेशा नहीं था कि उसी समय मस्तिष्काघात अर्थात् ब्रेन हैमरेज के चलते वे अस्पताल में भरती थे। वहीं वे नीम बेहोशी में चले गये और उसके बाद उन्हें कभी होश नहीं आया। पुणे के अपने घर में ही उन्होंने अंतिम साँस ली। अगर व्यक्तिगत परिचय या मुलाक़ात की बात करें तो यह बताना ज़रूरी है कि मैं उनसे बहुत कम मिला था और वे तमाम मुलाक़ातें बेहद औपचारिक क़िस्म की थीं— किसी व्याख्यान के बाद या किसी आयोजन के बाद मेरे अभिवादन और उस पर उनकी प्रतिक्रिया तक सीमित थीं। इसे संयोग कहा जा सकता है कि ढाई साल पहले उनसे कुछ ज़्यादा बात हुई थी। उस समय वे अपनी नातिन केतकी के स्कूल के एक समारोह में आये थे और उस कार्यक्रम में मैं भी पहुँचा था। कार्यक्रम समाप्त होने पर सभी लोग बाहर निकले थे और हॉल के बाहर जब वे अपने आत्मीयों का इंतज़ार कर रहे थे, मेरी उनसे थोड़ी देर तक गुफ़्तगू हुई थी।

वे रिनेसाँ मेन की तर्ज़ पर भारत के अपने 'पुनर्जागरण पुरुष' थे। ज़ाहिर है कि जिस तरह एक साथ उन्होंने एक माध्यम से दूसरे माध्यम या एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बेहद सहजता के साथ अपनी आवाजाही जारी रखी थी और साथ में विचारों की दुनिया पर भी एक अलग छाप छोड़ी— इसे देखते हुए उनके लिए ऐसा कहा जाना स्वाभाविक ही है।

□□□

वैसे बहुत कम लोग होते हैं जिनका गुज़र जाना कई दायरों में एक सदमे की तरह महसूस किया जाता है, कई दायरों को एक साथ सूना कर देता है। गोपु के गुज़र जाने पर यह बात सटीक बैठती है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अंतर्राष्ट्रीय मामलों का अध्यापन (जिसमें उनका विशेष फ़ोकस चीन था और उन्होंने 'चायना स्टडी ग्रुप' की भी स्थापना में योगदान दिया था); *उध्वस्त धर्मशाला, अंधार यात्रा, चाणक्य विष्णुगुप्त, रास्ते* और *सत्यशोधक* जैसे मराठी नाटकों का लेखन; *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* में नियमित स्तम्भ-लेखन; संस्कृत साहित्य से लेकर मराठी साहित्य का गहन अध्ययन; साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़ या ऐसे ही अन्य जनपक्षीय मसले पर दिल्ली की सड़कों पर सामूहिक प्रतिरोध में भी समय-समय पर उनकी मौजूदगी और सबसे बढ़ कर वामपंथी आंदोलन के साथ लम्बे अरसे से चली आयी संलग्नता। वैसे महाराष्ट्र के बाहर के बहुत कम लोग जानते होंगे कि उन्होंने कविताएँ भी लिखी थीं और कुछ समय पहले उनका कविता-संग्रह भी प्रकाशित हुआ था। उनकी जीवन-संगिनी कालिंदी देशपांडे ख़ुद नारी मुक्ति आंदोलन की अग्रणी कार्यकर्त्री थीं। उनका निधन 2006 में हुआ। गोपु को श्रद्धांजलि देते हुए किसी ने ठीक ही लिखा है कि वे रिनेसाँ मेन की तर्ज़ पर भारत के अपने 'पुनर्जागरण पुरुष' थे। ज़ाहिर है कि जिस तरह एक साथ उन्होंने एक माध्यम से दूसरे माध्यम या एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बेहद सहजता के साथ अपनी आवाजाही जारी रखी थी और साथ में विचारों की दुनिया पर भी एक अलग छाप छोड़ी— इसे देखते हुए उनके लिए ऐसा कहा जाना स्वाभाविक ही है।

उनके जीवन में विचारों की प्रधानता की इसी स्थिति के चलते जिन नाटकों की उन्होंने रचना की वहाँ पर भी वे एक नयी ज़मीन तोड़ने में सफल रहे। उनके नाट्यलेखन ने मराठी रंगमंच में ही नहीं बल्कि भारतीय रंगमंच पर एक अलग छाप छोड़ी। वे चर्चा की शैली वाला नाटक लिखने के लिए जाने जाते थे। यह 1973 का क़िस्सा है जब सत्यदेव दुबे ने नाट्यलेखन शिविर का आयोजन किया था। इसमें सतीश आलेकर से लेकर (बाद में चर्चित) उस वक़्त के कई उदीयमान नाटककारों ने हिस्सा लिया था। इसी शिविर में गोपु ने अपने नाटक *उध्वस्त धर्मशाला* का पाठ किया। विश्वविद्यालय में कार्यरत एक मार्क्सवादी प्रोफ़ेसर की घुटन और प्रताड़ना पर केंद्रित यह नाटक श्रीराम लागू को भी बेहद पसंद आया था। लागू उस वक़्त मराठी नाट्यजगत में सफलता की बुलंदियों पर

थे। नाटक के मंचन के लिए उन्होंने कई पेशेवर नाट्य समूहों से सम्पर्क किया, मगर कोई तैयार नहीं हुआ। उन सभी को उसमें कोई व्यावसायिक तत्त्व नहीं दिखाई दिया। बाद में ख़ुद श्रीराम लागू ने ही इस नाटक को अभिनीत किया था। नाटक न केवल चर्चित हुआ, बल्कि कई अन्य भाषाओं में अनूदित और मंचित भी हुआ।

उनके एक अन्य नाटक *रास्ते* में भी वही चर्चा शैली व्यक्त होती है। इस नाटक के केंद्र में है अलग-अलग राजनीतिक रुझानों वाले तीन मित्रों की जीवन-यात्रा, जो बड़ोदा विश्वविद्यालय से स्नातक हो कर निकलते हैं। इनमें से एक मार्क्सवादी विचारों का है, एक संघी है, तो तीसरा मस्तमौला क़िस्म का है। इस जीवन-यात्रा के बहाने उन्होंने समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक आंदोलन पर अपना नज़रिया पेश करने की कोशिश की थी। नाटक के अंतिम दृश्य में वे तीनों इक्कीसवीं सदी के पुणे में मिलते हैं, जहाँ फिर उनके बीच तीखी बहस होती है। इस समय उनके साथ उनकी पत्नियाँ भी हैं, इस पूरी बहस से निर्लिप्त। बातचीत के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि समाज में नकारात्मकता फैली है और हमें संवाद जारी रखना चाहिए। याद रहे कि नाटक के मार्क्सवादी पात्र की बेटी की नक्सलवादी आंदोलन में सक्रियता और उसके चित्रण को लेकर गोपु को आलोचना का भी शिकार होना पड़ा।

वैसे आलोचना का एक वक़्त वह भी आया था जब त्येन आन मन चौक की घटना हुई थी और 1989 में छात्रों एवं मज़दूरों के एक व्यापक आंदोलन को चीनी हुकूमत ने बर्बरता के साथ कुचल दिया था। उसी समय चीन के समाजवादी रास्ते से विपथगमन पर चर्चाएँ तेज़ हुई थीं। उस वक़्त भी चीन के अध्येता के तौर पर उन्होंने घटनाओं का 'वस्तुनिष्ठ विश्लेषण' पेश करते हुए कहा था कि ऐसी स्थितियाँ आने वाले दिनों में भी बन सकती हैं। लेकिन उन्होंने चीन के इन बदलावों को लेकर मार्क्सवाद के आधिकारिक संस्करण को प्रश्नांकित नहीं किया।

जन नाट्य मंच के कहने पर उन्होंने महात्मा फुले के जीवन पर आधारित नाटक *सत्यशोधक* की रचना की। इस नाटक की एक ख़ासियत यह थी कि इसे पुणे के स्वच्छता विभाग में कार्यरत चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों को लेकर इसे तैयार किया गया था। नाटक इस क़दर लोकप्रिय हुआ कि एक साल के अंदर पूरे महाराष्ट्र में उसका सौ स्थानों पर मंचन हुआ।

प्रगतिशील आंदोलन में अपने बौद्धिक पुरखों के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखता ... ऐसा प्रतीत हो सकता है कि प्रगतिशील सांस्कृतिक आंदोलन के लिए दुनिया के ग़ैर-उच्चवर्णीय जनों से निकले फुले और नारायण गुरुओं की कोई अहमियत न हो ... (इसके अलावा) यह दिख सकता है कि प्रगतिशील सांस्कृतिक आंदोलन ने कभी क्लासिकीय भाषाओं के साथ अपने रिश्ते को परिभाषित नहीं किया।

▣▣▣

अगर नाटकों के ज़रिये उन्होंने अपनी वैचारिक मुहिम को एक नया आयाम दिया तो *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* के नियमित स्तंभ में उसे एक अलग दिशा दी। वे जब भी लिखते थे, बेबाक ढँग से लिखते थे। सलमान रश्दी के मसले पर बहुत मुखर हो कर बोलने वाले और शिवसेना द्वारा रोहिंग्टन मिस्त्री की किताब पर लगायी गयी 'पाबंदी' पर अचानक मौन हो जाने वाले उदारतावादियों के दोहरेपन को उजागर करने में उन्होंने कोई संकोच नहीं किया ('सिलेक्टिव रिस्पॉन्सेस')। उन्होंने किताबों या अन्य रचनाओं के साथ सीधी बौद्धिक अंत:क्रिया करने के बजाय उस पर पाबंदी लगाने या तोड़-फोड़ का सहारा लेने की भारतीय प्रवृत्ति को कभी नहीं बख़्शा ('प्राइड ऐंड प्रेजुडिस इन मराठा कंट्री')। इन्हीं में से कुछ लेखों का संकलन 2006 में प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था *टॉकिंग द पॉलिटिकल कल्चरली*। इस संकलन में उनके वामपंथी कार्यकर्ता होने का स्वर प्रधान दिखता है।

इस किताब की समीक्षा करते हुए ईपीडब्ल्यू में अनिकेत आलम ने लिखा कि इसका पहला निबंध एक तरह से दक्षिण एशिया की बौद्धिक परम्पराओं के प्रति वाम कार्यकर्ताओं की अनभिज्ञता के ख़तरनाक परिणामों को लेकर उन्हीं से एक संवाद है। इसी किताब में एक स्थान पर गोपु ने लिखा है:

> प्रगतिशील आंदोलन में अपने बौद्धिक पुरखों के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखता ... ऐसा प्रतीत हो सकता है कि प्रगतिशील सांस्कृतिक आंदोलन के लिए दुनिया के ग़ैर-उच्चवर्णीय जनों से निकले फुले और नारायण गुरुओं की कोई अहमियत न हो ... (इसके अलावा) यह दिख सकता है कि प्रगतिशील सांस्कृतिक आंदोलन ने कभी क्लासिकीय भाषाओं के साथ अपने रिश्ते को परिभाषित नहीं किया। जनता की ज़ुबान के सेलिब्रेशन का मतलब क्लासिकीय को ख़ारिज करना हो, यह कोई ज़रूरी नहीं है। ... इसके चलते कई लोग संस्कृत जैसी भाषा को किसी जाति समूह या धार्मिक समूह तक सीमित कर देते हैं। यह वही हुआ कि आप उर्दू को मुसलमानों तक सीमित कर दें।
>
> (प्रगतिशील सांस्कृतिक आंदोलन) क्लासिकीय और जन/फ़ोक के नितांत अनैतिहासिक, दरअसल पूरी तरह झूठे अंतर्विरोध में संलिप्त दिखता है ... वह एक तरह से, क्लासिसिज़म और क्लासिकीय परम्परा को रूढ़िवाद के हाथ में सौंपने के लिए आंशिक तौर पर ज़िम्मेदार है।

सन् 2006 में प्रकाशित अपनी रचना *वर्ल्ड ऑफ़ आयडियाज़ इन मॉडर्न मराठी* में गोपु आधुनिक भारत के बौद्धिक इतिहास पर निगाह डालते हैं और फुले, विनोबा और सावरकर के विचारों की चर्चा के बहाने एक अलग क़िस्म का बौद्धिक हस्तक्षेप करते हैं। गोपु के मुताबिक़ भारत में उन्नीसवीं सदी के इतिहास-लेखन की समस्या यह है कि वह इस बिंदु से प्रस्थान करता है कि 'भारत एक इतिहास-क्षेत्र है।' अपनी प्रस्तावना में वे सचेत तौर पर एक स्वायत्त बुद्धिजीवी होने के नाते तथा साथ ही भारतीय राष्ट्र का हिस्सा होने के तौर पर क्षेत्र को आगे रखते हैं। युरोप के साथ सादृश्यता दिखाते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि जर्मन आधुनिकता व्यापक युरोपीय आधुनिकता का ही हिस्सा है, मगर जर्मन-चिंतन के इतिहास से परिचित हुए बिना उसका अध्ययन नहीं किया जा सकता। उनके मुताबिक़ 'भारत में इतिहास को बहुवचनी होना चाहिए। भारत का इतिहास उसकी राष्ट्रीयताओं का इतिहास है।' इस किताब की चर्चा करते हुए ईपीडब्ल्यू के उसी आलेख में अनिकेत आलम जोड़ते हैं कि 'इसका मतलब यह नहीं निकाला जा सकता कि 'गोपु किसी 'देशज' विचार की हिमायत करते हैं और आधुनिकता की किसी उत्तर-आधुनिक आलोचना से प्रभावित हैं जो इतिहास के महाख्यान के बरअक्स स्थानीय को बुलंद करती है। दरअसल वे ऐसा बौद्धिक रुख अख़्तियार करते हैं जो इन सिद्धांतों और रचनाओं के प्रति स्थूल रूप से दूरी रखता हो, इसके लिए जिन बौद्धिक उपकरणों का वे इस्तेमाल करते हैं वह क्लासिकीय वाम-उदारतावादी अकादमिक जगत के दृष्टिकोण के नज़दीक दिखता है। यह नज़रिया मार्क्सवाद, यथार्थवाद और साम्राज्यवाद-विरोध से प्रेरित है तथा सशक्त मानवतावादी विचार में स्थापित है।'

भारत का वामपंथ इस समय अंतर्विरोधी छवि का शिकार नज़र आ रहा है। दुनिया के अन्य हिस्सों के विभिन्न वाम संगठनों/आंदोलनों के बरअक्स, जिन्हें सोवियत-विघटन के बाद शिकस्त का सामना करना पड़ा, उसके लिए यह मुमकिन हुआ है कि वह ख़ुद को बनाये रखे और कुछ स्थानों पर विस्तारित भी हो। लेकिन अपना अस्तित्व बचाये रखने या तमाम चुनौतियों के बीच अपनी निरंतरता क़ायम रखने का अर्थ यह नहीं है कि उसके सामने चुनौतियाँ नहीं हैं। इक्कीसवीं सदी में सामाजिक बदलाव की मुक्तिकामी दृष्टि पेश करने का, जनता की लामबंदी के लिए नयी क़िस्म की रणनीतियाँ विकसित करने का और सांगठनिक तौर पर अपने आपको पुनर्जीवित करने का सवाल उसके सामने आज भी बना हुआ है। दलित-मुक्ति का प्रश्न या जाति के विनाश के लिए समग्र संघर्ष का सवाल

ऐसा ही एक अहम सवाल है, जिस पर गम्भीरता से ध्यान देने की ज़रूरत है। *सिलेक्टेड रायटिंग्ज़ ऑफ़ ज्योतिराव फुले* की प्रस्तावना में गोपु फुले के आकलन के बहाने इन प्रश्नों को लेकर प्रचलित वाम समझदारी से अलग रेखा खींचते दिखते हैं। फुले ने सामाजिक मुक्ति के क्षेत्र में एक रैडिकल प्रवाह के विकास में अहम भूमिका अदा की थी। उन्होंने 'शेटजी और भटजी' (महाजन और ब्राह्मण) से मुक्ति की ज़रूरत रेखांकित की थी। फुले की अगुआई में संचालित इस आंदोलन ने भारतीय संदर्भ में स्त्री की मुक्ति का जो विचार सामने रखा वह ऊँची जाति से सम्बद्ध समाज सुधारकों से गुणात्मक तौर पर अलग था। फुले द्वारा स्थापित सत्यशोधक समाज के अग्रणी लोखंडे ने ही उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बम्बई के कामगारों को संगठित कर उनकी पहली यूनियन की नींव डाली थी। गोपु लिखते हैं :

> फुले का फलक व्यापक था, उनका प्रसार विशाल था। उन्होंने अपने वक़्त के अधिकतर महत्त्वपूर्ण प्रश्नों— धर्म, वर्णव्यवस्था, कर्मकाण्ड, भाषा, साहित्य, ब्रिटिश हुकूमत, मिथक, जेण्डर प्रश्न, कृषि में उत्पादन की परिस्थितियाँ, तथा किसानों की हालत आदि— को चिह्नित किया और उन्हें सैद्धांतिक शक्ल देने की कोशिश की। इस सूची को और बढ़ाया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी के भारत में ऐसी कोई दूसरी शख़्सियत नज़र नहीं आती, जिसके सरोकार इतने व्यापक हों। ... क्या फुले को फिर समाज सुधारक कहा जा सकता है? इसका जवाब होगा 'नहीं'। एक समाज सुधारक उदार मानवतावादी होता है और फुले क्रांतिकारी अधिक थे। उनके पास विचारों की समग्र प्रणाली थी, और वह उन प्रारम्भिक विचारकों में से थे, जिन्होंने भारतीय समाज में वर्गों की पहचान की थी। उन्होंने भारतीय समाज की द्वैवर्णिक संरचना का विश्लेषण किया था, और सामाजिक क्रांति के लिए शूद्रों-अतिशूद्रों को अग्रणी कारक शक्ति/एजेंसी के तौर पर चिह्नित किया था।

अपने सम्पादकीय के अंत में वे मार्क्स के योगदान के साथ फुले के योगदान की तुलना करते लिखते हैं :

> अपने आलेख 'ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में मार्क्स बताते हैं कि इंग्लैण्ड के आगमन ने किस तरह भारतीय जनता की मौजूदा दुर्गति को एक ख़ास क़िस्म की विषण्णता प्रदान की। भारत के किसान समुदाय की इस दुर्गति और विपन्नता के प्रति फुले का भी सरोकार था। और, मार्क्स की तरह फुले का जीवन इस विपन्नता के विश्लेषण में सन्नद्ध रहा ताकि इसमें से कोई रास्ता निकाला जा सके। दूसरे शब्दों में कहें तो विचारों की प्रणाली को तब तक सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकती जब तक उसमें उम्मीद का तत्त्व न हो। मार्क्स ने उस काम को अंजाम दिया। फुले ने भी किया। उसे अमली जामा पहनाना हमारी ज़िम्मेदारी है।